आयुर्वेद के विषय में जैन दृष्टिकोण और जैनाचार्यों का योगदान

—आचार्य राजकुमार जैन

आयुर्वेद एक शाश्वत जीवन विज्ञान है। जीवन के प्रत्येक क्षण की प्रत्येक स्थिति आयुर्वेदीय सिद्धान्तों में सन्निहित है। आयुर्वेद मानव जीवन से पृथक् कोई भिन्न वस्तु या विषय नहीं है। अपितु दोनों में अत्यधिक निकटता और कहीं-कहीं तो तादात्म्य भाव है। सामान्यतः मनुष्य के जीवन की आद्यन्त प्रतिक्षण चलने वाली शृंखला ही आयु है, वह आयु जीवन है, उस आयु (जीवन) का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। यह आयुर्वेद अनादि काल से इस भूमंडल पर प्रवर्तमान है। जब से सृष्टि का आरम्भ और मानव जाति का विकास इस भूमंडल पर हुआ है तब ही से उसके जीवन में अनुरक्षण और स्वास्थ्य-रक्षा हेतु नियमों का उपदेश एवं रोगोपचार हेतु विविध उपायों का निर्देश करने के लिये यह आयुर्वेद शास्त्र सतत प्रवर्तित रहा है। इसकी नवीन उत्पत्ति नहीं होती है, अपितु अभिव्यक्ति होती है, अतः यह अनादि है। इसका विनाश नहीं होता है, अपितु कुछ काल के लिए तिरोभाव होता है, अतः यह अनन्त है। अनाद्यनन्त होने से यह शाश्वत है।

आयुर्वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त इतने सामान्य, व्यापक, जनजीवनोपयोगी एवं सर्वसाधारण के लिए हितकारी हैं कि सरलता पूर्वक उन्हें अमल में लाकर यथाशीघ्र आरोग्य लाभ किया जा सकता है। आयुर्वेद शास्त्र केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही उपयोगी नहीं है अपितु मानसिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए भी हितावह है। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्त चिकित्सा के अतिरिक्त ऐसे नियमों का प्रतिपादन करते हैं जो मनुष्य के आध्यात्मिक आचरण, मानसिक प्रवृत्ति और बौद्धिक जगत के क्रियाकलापों को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित करते हैं। अतः यह केवल चिकित्सा शास्त्र ही नहीं है, अपितु शरीर विज्ञान, मानव विज्ञान, मनोविज्ञान, तत्व विज्ञान, दर्शन शास्त्र एवं धर्मशास्त्र का एक ऐसा अद्भुत समन्वित रूप है जो सम्पूर्ण जीवन के अन्यान्य पक्षों को व्याप्त कर लेता है। अतः निःसंदेह यह एक संपूर्ण जीवन विज्ञान है।

वर्तमान में उपलब्ध वैदिक आयुर्वेद साहित्य के अनुसार भारतीय संस्कृति के आद्य स्रोत वेद और उपनिषद के बीज ही आयुर्वेद में प्रसार को प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद शास्त्र केवल भौतिक तत्वों तक ही सीमित नहीं है, अपितु आध्यात्मिक तत्वों के विश्लेषण में भी अपनी मौलिक विशेषता रखता है। इसके अतिरिक्त समकालीन होने के कारण दर्शन शास्त्र एवं धर्म शास्त्र ने आयुर्वेद के अध्यात्म संबंधी कतिपय सिद्धान्तों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। यही कारण है कि आयुर्वेद का अध्यात्म पक्ष भी उतना ही सबल एवं परिपुष्ट है जितना उसका भौतिक तत्व विश्लेषण संबंधी पक्ष है। इसी का परिणाम है कि भारतीय संस्कृति के विकास में जहां धर्म-दर्शन-नीति शास्त्र-आचार शास्त्र-व्याकरण-साहित्य-संगीत-कला आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है वहां आयुर्वेद शास्त्र ने भी अपनी जीवन पद्धति तथा शरीर, मन और बुद्धि को आरोग्य प्रदान करने वाले विशिष्ट सिद्धान्तों के द्वारा उसके स्वरूप को स्वस्थ और सुन्दर रखने के लिए अपनी विचारधारा से सतत आप्यायित किया है।

इस संदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो या निःश्रेयस्, दोनों की प्राप्ति के लिए मानव शरीर की स्वस्थता नितान्त अपेक्षित है। स्वस्थ शरीर ही समस्त भोगोपभोग अथवा मनःशान्तिकारक या आत्म-अभ्युन्नतिकारक देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप, त्याग, दान आदि धार्मिक क्रियाएं करने में समर्थ है। विकारग्रस्त अथवा अस्वस्थ शरीर न तो भौतिक विषयों का उपभोग कर सकता है और न ही धर्म का साधन। इसीलिए चतुर्विध पुरुषार्थ का मूल आरोग्य को प्रदान करने और विकारग्रस्त शरीर की विकाराभिनिवृत्ति करने में एक मात्र आयुर्वेद ही समर्थ है। यही कारण है कि आयुर्वेद को ही भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग माना गया है। भारतीय संस्कृति में जो स्थान धर्म-दर्शन आदि का है वही स्थान आयुर्वेद का भी है। आयुर्वेद शास्त्र की यह एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौलिक विशेषता है कि इसमें मनुष्य की शारीरिक स्थिति के साथ-साथ उसकी मानसिक एवं आध्यात्मिक स्थिति के विषय में भी पर्याप्त गम्भीर विचार किया गया है। शरीर के साथ-साथ प्राण तत्व का विवेचन, आत्मा और मन के विषय में स्वतंत्र दृष्टिकोण तथा शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास क्रम का यथोचित वर्णन आयुर्वेद की वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता के सबल प्रमाण हैं। उसकी वैद्यक विद्या अपनी पृथक् पद्धति एवं चिकित्सा सम्बन्धी व्यापकता के कारण विशिष्ट महत्वपूर्ण है। पोषण सम्बन्धी तत्वों एवं रासायनिक पदार्थों का उसमें विशिष्ट रूप से विभक्तीकरण किया गया है जो पूर्णतः मात्रा और गुण पर आधारित है। विशिष्ट विधिपूर्वक निर्मित रस-रसायन-पिष्टी-भस्म-वटी-लेप-घृतपाक-तैलपाक-अवलेह मोदक आदि कल्पनाएं और समस्त वनौषधियों के प्रयोग ने इस विज्ञान को निश्चय ही मौलिक स्वरूप प्रदान किया है। अपनी सरलता और रोगमुक्त करने की क्षमता के कारण आयुर्वेद की अनेक प्रक्रियाओं ने ग्रामीण जन जीवन में इतनी आसानी से प्रवेश पा लिया है कि आज भी गांव में किसी के व्याधित या रोग पीड़ित हो जाने पर विभिन्न काढ़ों, (क्वाथ), लेपों आदि के द्वारा ग्रामीण जन उपचार करते देखे जाते हैं। इसका मूल कारण यही है कि आयुर्वेद मानव जीवन के अत्यधिक सन्निकट है।

आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित रोग निदान और चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों में रोगी के अन्तरिम प्राण बल के अन्वेषण पर ही बल दिया गया है। रोग के मूल कारण को मिथ्या आहार-विहार जनित बतला कर जिस प्रकार संयम द्वारा आहारगत पथ्य के नियम बनाए गए हैं वे अत्यन्त उत्कृष्ट एवं व्यावहारिक हैं। जो लोग एलोपैथी, होम्योपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि में विश्वास रखते हैं वे भी आज आहार के महत्व को समझने लगे हैं और रोग निवारण के लिए रोगी के चिकित्सा क्रम में संयम द्वारा विनिर्मित आहारगत पथ्य क्रम को महत्व देने लगे हैं।

आयुर्वेद शास्त्र को जिस प्रकार वैदिक विचारधारा और वैदिक तत्वों ने प्रभावित किया है उसी प्रकार जैनधर्म और जैन विचारधारा ने भी उसे पर्याप्त रूप से प्रभावित कर अपने अनेक सिद्धान्तों से अनुप्राणित किया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय में भी आयुर्वेद शास्त्र का स्वतंत्र स्थान है। अन्य विषयों या अन्य शास्त्रों की भांति वैद्यक शास्त्र की प्रामाणिकता भी जैन वाङ्मय में प्रतिपादित है। जैनागम में आयुर्वेद को भी आगम के अंग रूप में स्वीकार किया गया है। जैनागम में केवल उसी शास्त्र या विषय की प्रामाणिकता प्रतिपादित है जो सर्वज्ञ द्वारा कथित हो। सर्वज्ञ कथन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय को कोई भी स्थान या महत्व नहीं है। सर्वज्ञ तीर्थंकर के मुख से जो दिव्य ध्वनि खिरती है उसे श्रुतज्ञान के धारक गणधर अविकल रूप से ग्रहण करते हैं। गणधर द्वारा गृहीत वह दिव्य ध्वनि (जो ज्ञान रूप होती है) उनके द्वारा आचारांग आदि बारह भेदों में विभक्त की गई। गणधर द्वारा निरूपित बारह भेदों को द्वादशांग की संज्ञा दी गई है। इन द्वादशांगों में प्रथम आचरांग है और बारहवां "दृष्टिवाद" नाम का अंग है। उस बारहवें दृष्टिवादांग के पांच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। इनमें जो 'पूर्व' या 'पूर्वगत' नामक भेद है उसके चौदह भेद हैं। उन चौदह भेदों में एक 'प्राणावाय' या 'प्राणावाद' नामक भेद है। इसी प्राणावाय नामक अंग में अष्टांग आयुर्वेद का कथन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है। जैन मतानुसार आयुर्वेद या वैद्यक शास्त्र का मूल द्वादशांग के अन्तर्गत यही 'प्राणावाय' नामक भेद है। इसी के अनुसार अथवा इसी के आधार पर जैनाचार्यों ने लोकोपयोगी वैद्यक शास्त्र की रचना की या आयुर्वेद प्रधान ग्रंथों का निर्माण किया। जैनाचार्यों ने 'प्राणावाय' की विवेचना इस प्रकार की है—"कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेद भूतकर्मजांगुलिप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्।"

अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गत दोष और उनकी चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के कर्म, विषैले जीवजन्तुओं के विष का प्रभाव और उसकी चिकित्सा तथा प्राण-अपान वायु का विभाग विस्तारपूर्वक वर्णित हो वह 'प्राणावाय' होता है।

द्वादशांग के अन्तर्गत निरूपित प्राणावाय पूर्व नामक अंग मूलतः अर्धमागधी भाषा में लिपिबद्ध है। इस प्राणावाय पूर्व के आधार पर ही अन्यान्य जैनाचार्यों ने विभिन्न वैद्यक ग्रंथों का प्रणयन किया है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी प्राणावाय पूर्व के आधार पर 'कल्याण कारक' नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है। इसका उल्लेख आचार्य श्री ने स्थान-स्थान पर किया है। ग्रन्थ के अन्त में वे लिखते हैं—

सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद् भाषापरिशेषोज्वलात्
प्राणवायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः॥

—कल्याणकारक, अ० २५, श्लो० ५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिपादित करने वाली सर्वार्धमागधी भाषा में जो प्राणावाय नामक महागम (महाशास्त्र) है उससे यथावत् संक्षेप रूप से संग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थान भूत इस शास्त्र की रचना संस्कृत भाषा में की। इन दोनों (प्राणावाय अंग और कल्याणकारक) में यही अन्तर है। याने प्राणावाय अंग अर्धमागधी भाषा में निबद्ध है और कल्याणकारक संस्कृत भाषा में रचित है। दोनों में बस यही अन्तर है।

जैन मतानुसार आयुर्वेद रूप सम्पूर्ण प्राणावाय के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हैं। इसके विपरीत वैदिक मतानुसार आयुर्वेद शास्त्र के आद्य प्रवर्तक या आद्युपदेष्टा ब्रह्मा हैं जिन्होंने सृष्टि की रचना से पूर्व ही उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र की अभिव्यक्ति की जिस प्रकार बालक के जन्म से पूर्व ही माता के स्तनों में स्तन्य (क्षीर) का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु जैन मतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है। अतः इसकी रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रथम और द्वितीय काल में यहां भोग भूमि की उत्कृष्ट दशा थी जिसमें सभी मनुष्यों में पारस्परिक सौहार्दभाव था। ईर्ष्या और द्वेष भाव से पूर्णतः रहित वे एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह की दृष्टि से देखते थे। उनकी सभी अभिलाषाएँ कल्पवृक्षों से पूर्ण होती थीं, वे कल्पवृक्ष सभी प्रकार के मनोवांछित सुख के प्रदाता थे। अभिलषित सुख का उपभोग करने वाले भोग भूमि में उत्पन्न वे पुण्यात्मा मनुष्य यावज्जीवन उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सुखोपभोग कर अपने आयुकर्म के क्षय के अनन्तर ही स्वर्ग को प्राप्त होते थे। इस प्रकार भोग भूमि में मनुष्यों को किसी भी प्रकार का कोई दुःख नहीं था और न ही वे किसी व्याधि से पीड़ित होते थे।

भोग भूमि के पश्चात् इस क्षेत्र में कर्मभूमि का प्रारंभ हुआ। फिर भी उपपाद शय्या में उत्पन्न होने वाले देवगण, चरम व उत्तम शरीर को प्राप्त करने वाले पुण्यात्मा अपने पुण्य प्रभाव से विष-शस्त्रादि के द्वारा होने वाले अपघात से सुरक्षित दीर्घायु शरीर को ही प्राप्त करते थे। किन्तु उस समय शनैः शनैः कालक्रम से ऐसे मनुष्य भी उत्पन्न होने लगे जो विष-शस्त्रादि द्वारा घात होने योग्य शरीर को धारण करने वाले होते थे। उन्हें वात-पित्त-कफ के उद्रेक से महाभय उत्पन्न होने लगा। ऐसी स्थिति में भरत चक्रवर्ती आदि भव्य जन भगवान ऋषभदेव के उस समवसरण में पहुँचे जो अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, छत्र, चामर, रत्नजड़ित सिंहासन, भामण्डल और देव दुन्दुभि अष्ट महाप्रातिहार्य तथा बारह प्रकार की सभाओं से वेष्टित था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने प्रभु से निम्न प्रकार निवेदन किया।

देव ! त्वमेव शरणं शरणागतानामस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ।
शीतातितापहिमवृष्टिनिपीडितानां कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम् ॥
नानाविधामयभयादतिदुःखितानामाहारभैषजनिरुक्तिमजानतां नः।
तत्स्वास्थ्यरक्षणविधानमिहातुराणां का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ ॥ —कल्याणकारक, अ० १/६-७

अर्थात् हे देव ! इस कर्मभूमि में अत्यधिक ठंड, गर्मी और वर्षा से पीड़ित इस कालक्रम से मिथ्या आहार-विहार के सेवन में तत्पर व्याकुल बुद्धिवाले शरणागत हम लोगों के लिए आप ही शरण हैं। हे तीन लोक के स्वामिन् ! अनेक प्रकार की व्याधियों के भय से अत्यन्त दुःखी तथा आहार औषधि के क्रम को नहीं जानने वाले हम व्याधितों (पीड़ितों) के लिए स्वास्थ्य रक्षा के उपाय और रोगों का नाश करने वाली क्रिया (चिकित्सा) बतलाने की कृपा करें।

इस प्रकार भगवान से निवेदन करने के पश्चात् वृषभसेन आदि प्रमुख गणधर और भरत चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष अपने-अपने स्थान पर मौन होकर अवस्थित हो गए। तब उस महान् सभा रूप समवसरण में भगवान की उत्कृष्ट देवी (साक्षात पट्टरानी) रूप सरस वाग्देवी दिव्य ध्वनि से युक्त प्रसरित हुई। उस दिव्य ध्वनि रूप सरस्वती ने सर्वप्रथम पुरुष लक्षण, रोग लक्षण, औषधियां एवं सम्पूर्ण काल रूप सकल वस्तु-चतुष्टय का संक्षेपतः वर्णन किया जो सर्वज्ञत्व का सूचक है।

इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र का आविर्भाव आद्यतीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के मुखारविन्द से निःसृत दिव्य ध्वनि के द्वारा हुआ। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद शास्त्र के आद्युपदेष्टा भगवान ऋषभदेव हैं। उनसे उपदिष्ट आयुर्वेद की परम्परा किस प्रकार से प्रसार को प्राप्त हुई, इसका विवेचन श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रंथ कल्याणकारक में निम्न प्रकार से किया है—

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपचमष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ॥
एवं जितान्तरनिबन्धनसिद्धमार्गादायातमायतमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायम्भुवं सकलमेव सनातनं तत्साक्षाच्छ्रुतं श्रुतकेवलिभ्यः ॥ —कल्याणकारक, अ० १/६-१०

अर्थात् इस प्रकार भगवान की दिव्य ध्वनि द्वारा प्रकट हुआ परमार्थ रूप से उत्पन्न सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र को गणधर परमेष्ठी ने साक्षात् रूप से जान लिया। तत्पश्चात् गणधर प्रमुख द्वारा निरूपित उस वस्तु स्वरूप को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को धारण करने वाले निर्मल बुद्धि वाले मुनियों ने जाना। इस प्रकार यह आयुर्वेद शास्त्र अन्य तीर्थंकर द्वारा भी प्रतिपादित होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चला आया है। याने आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकरों के मुखारविन्द से निःसृत दिव्य ध्वनि द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया है। अतः अन्य तीर्थंकरों द्वारा कथित सिद्ध मार्ग से आगत हुआ यह आयुर्वेद शास्त्र अत्यन्त विस्तृत, दोषरहित एवं अर्थगाम्भीर्य से युक्त है। तीर्थंकरों के मुखकमल से स्वतः समुद्भूत होने से स्वयम्भु हैं और बीजांकुर न्याय से (पूर्वोक्त क्रम से) अनादि काल से सतत चले जाने के कारण सनातन है। ऐसा यह आयुर्वेद शास्त्र गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियों के मुख से अल्पांग ज्ञानी या आगम ज्ञानी मुनिवरों द्वारा साक्षात् रूप से सुना हुआ (सुनकर ग्रहण किया हुआ) है। तात्पर्य यह है कि श्रुतकेवलियों ने अन्य मुनियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया।

अल्पांगज्ञानी या अंगांगज्ञानी उन मुनिवरों ने अपने शिष्यों, अन्य मुनियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया और उन्होंने उस ज्ञान के आधार पर पृथक्-पृथक् रूप से ग्रंथों के रूप में उसे निबद्ध कर लोकहित की दृष्टि से उसे प्रचारित किया। इस प्रकार आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक ग्रंथों का प्रणयन कालान्तर में करुणाधारी मुनिजनों द्वारा किया गया। कालक्रम, आलस्य और उपेक्षा के कारण आज अनेक ग्रंथ कालकवलित या विलुप्त हो चुके हैं। जो बचे हैं उनके संरक्षण की ओर समुचित स्थान नहीं दिया जा रहा है और न ही इसके लिए कोई उपाय किए जा रहे हैं। अतः शनैः शनैः शेष बचे हुए ग्रन्थों के भी विलुप्त होने की संभावना है।

आयुर्वेद शास्त्र का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने वाले और उसमें निष्णात व्यक्ति को "वैद्य" कहा जाता है—ऐसा कथन तज्ज्ञ मुनिजनों ने किया है। वैद्यों का शास्त्र होने से इसे 'वैद्य शास्त्र' या 'वैद्यक शास्त्र' भी कहते हैं। श्री उग्रादित्याचार्य ने वैद्य एवं आयुर्वेद शब्द को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम्।
वैद्यं वदन्ति पदशास्त्रविशेषणज्ञा एतद्विचिन्त्य च पठन्ति च तेऽपि वैद्याः ॥
वेदोऽयमित्यपि च बोधविचारलाभात्तत्त्वार्थसूचकवचः खलु धातुभेदात्।
आयुश्च तेन सहपूर्वं निबद्धमुद्यच्छास्त्राभिधानमपरं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥—कल्याण कारक, अ० १/१८-१९

अर्थात् अच्छी तरह से उत्पन्न केवल ज्ञान रूपी चक्षु को विद्या कहते हैं। इस विद्या से उत्पन्न उदारशास्त्र को व्याकरण शास्त्र के विशेषज्ञ 'वैद्यशास्त्र' कहते हैं। उस उदार शास्त्र को जो लोग अच्छी तरह मनन पूर्वक पढ़ते हैं वे 'वैद्य' कहलाते हैं। यह आयुर्वेद भी कहलाता है। इसमें "वेद" शब्द विद्धातु से निष्पन्न है। विद् धातु बोध (ज्ञान), विचार और लाभ अर्थ वाली है। यहाँ वेद शब्द का अर्थ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाने वाला है। याने तत्त्व के अर्थ को प्रतिपादित करने वाले वचन। इस वेद शब्द के पहले "आयु" शब्द जोड़ दिया जाय तो "आयुर्वेद" शब्द निष्पन्न होता है। अतः उस वैद्यकशास्त्र के ज्ञाता उस शास्त्र का अपर (दूसरा) नाम आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं।

आयुर्वेद के विशिष्टार्थ एवं विस्तृत व्याख्या के संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जिस शास्त्र में आयु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया हो, जिस शास्त्र का अध्ययन करने से आयु सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है अथवा जिस शास्त्र के विषय में विचार करने से हितकर आयु, अहितकर आयु, सुखकर आयु और दुःखकर आयु के विषय में जानकारी प्राप्त होती है अथवा जिस शास्त्र में बतलाए हुए नियमों का पालन करने से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है उसका नाम आयुर्वेद है। इसी प्रकार स्वस्थ आर अस्वस्थ मनुष्य की प्रकृति, शुभ और अशुभ बतलाने वाले दूत एवं अरिष्ट लक्षण इत्यादि के उपदेशों से जो शास्त्र आयु का विषय अर्थात् यह स्वल्पायु है अथवा मध्यमायु है या दीर्घायु है—इन सब विषयों का ज्ञान करा देता है वह आयुर्वेद है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आयु शब्द का अर्थ *'वय' नहीं करना चाहिये। आयु और वय में पर्याप्त भिन्नता है। आयु शब्द यावज्जीवन काल का द्योतक है, जबकि वय शब्द जीवन की एक निश्चित कालावधि का द्योतक है। अतः आयु शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण करते* हुए आयुर्वेद के संदर्भ में उसकी जो विवेचना मनीषियों द्वारा की गई है वह सार्थक है। *तदनुसार आयु के लिए कौन-सी वस्तु लाभदायक* है अथवा किस वस्तु या विषय के सेवन से आयु की हानि हो सकती है? किस प्रकार की आयु हितकर है और किस प्रकार की आयु अहितकर है? यह सम्पूर्ण विषय जिस शास्त्र में वर्णित होता है तथा आयु को बाधित करने वाले रोगों का निदान और उनका प्रतिकार करने के उपायों (चिकित्सा) का वर्णन जिस शास्त्र में किया गया है उसे विद्वानों ने आयुर्वेद संज्ञा से अभिहित किया है। इस शास्त्र के द्वारा पुरुष चूंकि आयु को प्राप्त करता है तथा आयु के विषय में जान लेता है, अतः मुनिश्रेष्ठों द्वारा इसे "आयुर्वेद" कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र का विधिपूर्वक अध्ययन करके यदि समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है तो मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त करने और अपनी आयु का संरक्षण करने का उपाय सहज ही ज्ञात हो जाता है। क्योंकि इस शास्त्र में प्रतिपादित आहार-विहार सम्बन्धी नियमों और अन्य सदाचारों का पालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए मुनिवरों, ऋषियों और आचार्यों ने इसे आयुर्वेद के नाम से कहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह वैद्य शास्त्र लोकोपकार के लिए प्रतिपादित किया गया है। इसका प्रयोजन द्विविध है—

1—स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना, और 2—रोगी मनुष्यों के रोग का प्रशमन करना। श्री उग्रादित्याचार्य ने वैद्य शास्त्र के ये ही दो प्रयोजन बतलाए हैं। यथा—

लोकोपकरणार्थमिदं हि शास्त्रं
शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।
स्वास्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च
संक्षेपतः सकलमेव निरुप्यतेऽत्र ॥ —कल्याणकारक, अ० १/२४

इस शास्त्र में भगवान जिनेन्द्र देव के अनुसार दो प्रकार का स्वास्थ्य बतलाया गया है—पारमार्थिक स्वास्थ्य और व्यवहार स्वास्थ्य। इन दोनों में पारमार्थिक स्वास्थ्य मुख्य है। परमार्थ स्वास्थ्य का निम्न लक्षण बतलाया गया है—

अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुतं यदेतदात्यन्तिकद्वितीयम्।
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिः तदेतदुक्तं परमार्थनामकम् ॥ —कल्याणकारक, अ० २/३

अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने से उत्पन्न, अत्यन्त अद्भुत, आत्यन्तिक एवं अद्वितीय विद्वानों द्वारा अपेक्षित जो अतीन्द्रिय मोक्षसुख है उसे ही पारमार्थिक सुख कहते हैं।

व्यवहार स्वास्थ्य का लक्षण निम्न प्रकार बतलाया गया है—

समाग्निधातुत्वमदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रियसुप्रसन्नता।
मनः प्रसादश्च नरस्य सर्वदा तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु ॥ —कल्याणकारक, अ० २/४

अर्थात् मनुष्य के शरीर में सम अग्नि (अविकृत जठराग्नि) होना, धातुओं का सम होना, वात-पित्त-कफ तीनों दोषों का विषम (विकृत) नहीं होना, मलों (स्वेद, मूत्र-पुरीष) की विसर्जन क्रिया यथोचित रूप से होना, आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता सदैव रहना यह व्यवहारिक स्वास्थ्य का लक्षण है।

इस प्रकार द्विविध स्वास्थ्य का लक्षण कहने का आशय यह है कि पहले मनुष्य सम्यक् आहार-विहार द्वारा व्यावहारिक स्वास्थ्य याने शारीरिक स्वास्थ्य का लाभ और उसका अनुरक्षण करे। तत्पश्चात् स्वस्थ शरीर द्वारा अशेष कर्म क्षयकारक तपश्चरण आदि क्रियाओं से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके अक्षय, अविनाशी सुख रूप पारमार्थिक स्वास्थ्य का लाभ लेवे। इसे ही अन्य शास्त्रों में आध्यात्मिक सुख भी कहा गया है। मनुष्य जब उस परम सुख को प्राप्त कर लेता है तो उसके लिए और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। उसे चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है और उसका जीवन सफल एवं सार्थक हो जाता है। यही इस आयुर्वेद शास्त्र का मूल प्रयोजन है और इसी प्रयोजन के लिए वह प्रवर्तित है।

इससे स्पष्ट है कि जैन धर्म में लोकोपकार और आत्म-कल्याण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। क्योंकि परोपकार के कारण मनुष्य एक ओर तो दूसरों का हित करता ही है, दूसरी ओर पुण्य संचय के कारण अपना भी हित करता है। आयुर्वेद शास्त्र चूंकि परोपकारी शास्त्र है, अतः जैन धर्म के अन्तर्गत वह उपादेय है। यही कारण है कि धर्म-दर्शन आचार-नीति-ज्योतिष आदि अन्यान्य विद्याओं की भांति वैद्यक विद्या भी जैन धर्म के अन्तर्गत प्रतिपादित है। सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र देव द्वारा जिस प्रकार अन्य विद्याओं का कथन किया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद विद्या का कथन भी सांगोपांग रूप में विस्तार पूर्वक किया गया है। अपने लोकोपकारी स्वरूप के कारण आयुर्वेद शास्त्र की व्यापकता इतनी अधिक रही है कि वह शाश्वत रूप से विद्यमान है। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी द्वारा मुखरित होने के कारण अनेक प्रभावी जैनाचार्यों ने इसे अपनाया और गहन रूप से उसके गूढ़तम तत्त्वों का अध्ययन किया। जैनधर्म के ऐसे अनेक आचार्यों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है जिन्होंने अपने प्रखर पाण्डित्य के अधीन आयुर्वेद शास्त्र को भी समाविष्ट किया। इसका एक प्रमाण तो यही है कि आचार्यों ने सर्वज्ञ वाणी का मंथन कर आयुर्वेदामृत को निकाला, उसे उन्होंने अपनी महिमामयी लेखनी द्वारा लिपिबद्ध कर जगत् हितार्थ प्रसारित किया। उन आचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद विषयक ऐसी अनेक कृतियों का उल्लेख अन्यान्य ग्रंथों में मिलता है। इससे इस तथ्य की तो पुष्टि होती है कि जैन धर्म में अन्य विद्याओं की भांति आयुर्वेद का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म और दर्शन शास्त्र ने जिस प्रकार जैन संस्कृति के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाया है, आचार शास्त्र और नीति शास्त्र ने जिस प्रकार जैन संस्कृति की उपयोगिता को उद्भाषित किया है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र ने भी स्वास्थ्य प्रतिपादक सिद्धान्तों एवं संयम पूर्वक आहार चर्या आदि के द्वारा जैन धर्म और संस्कृति को व्यापक तथा लोकोपयोगी बनाने में अपना अपूर्व योगदान किया है। सद्वृत्त का आचरण तथा आहारगत संयम का परिपालन मनुष्य को आत्म कल्याण के सोपान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर आरूढ़ करता है। जैन धर्म में भी आत्म कल्याण हेतु प्रवृत्ति का निर्देश दिया गया है। अतः लक्ष्य साधन में समानता की स्थिति एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन संस्कृति के लोकोपकारी स्वरूप निर्माण में अन्य विद्याओं और कलाओं का जो योगदान रहा है वही योगदान आयुर्वेद शास्त्र का भी समझना चाहिए। आयुर्वेद शास्त्र में कुछ विशेषताएँ तो ऐसी हैं जो अन्य शास्त्रों में बिल्कुल भी नहीं हैं। मनुष्य के दैनिक जीवन में आचरित अनेक बातें ऐसी हैं जिसके नियम और उपयोगी सिद्धान्त आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित हैं। गर्भधारण से लेकर मरणपर्यन्त की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख एवं वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है। इसीलिए इसे जीवन विज्ञान कहा जाता है। मानव जीवन के साथ निकटता एवं तादात्म्य भाव इस शास्त्र की मौलिक विशेषता है। जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य में यह उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद की परिधि में आने वाली ऐसी अनेक बातें हैं जो जैनधर्म की दृष्टि से उपयोगी हैं। इसी प्रकार जैन धर्म की अनेक ऐसी बातें हैं जो आयुर्वेद की दृष्टि से भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी धार्मिक दृष्टि से हैं।

इस संदर्भ में "उपवास" को ही लिया जाय। आत्म कल्याण की दृष्टि से जैन धर्म में इस प्रक्रिया को अति महत्वपूर्ण माना गया है। क्योंकि उपवास के द्वारा जहां अहारगत संयम का पालन होता है वहां अन्तःकरण में विकार भावों का विनाश होकर शुद्धता आती है, जिसका प्रभाव मानसिक भावों एवं परिणामों पर पड़ता है। उधर आयुर्वेद शास्त्र में भी उपवास की अतिशय महत्ता स्वीकार की गई है। इसका कारण यह है कि उपवास के द्वारा जिह्वा की लम्पटता, रसों की लोलुपता तथा अति भक्षण आदि अहितकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है और उदर शुद्धि के साथ-साथ उदरगत क्रियायों को विश्राम मिलता है, जिससे वे अपनी प्राकृत स्थिति बनाए रखती है। आयुर्वेद शास्त्र में अनेक रोगों का मूल उदर विकार माना गया है जो आहार की अनियमितता और आहार सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन से होता है। उपवास के द्वारा दूषित, मलिन, विकृत, अहित, परस्पर विरुद्ध तथा अशुद्ध आहार से तो शरीर की रक्षा होती ही है, उदर में संचित दोषों और विकारों का शमन भी होता है। उपवास के द्वारा शारीरिक आरोग्य सम्पादन के साथ-साथ आत्मा को बल और अन्तःकरण को पवित्रता प्राप्त होती है।

उपवास को आयुर्वेद में "लंघन" कहा जाता है। अनेक रोगों के शमनार्थ लंघन की उपयोगिता सुविदित है। ज्वर में सर्वप्रथम लंघन का निर्देश दिया गया है। अजीर्ण, अतिसार, आमातिसार, आमवात तथा श्लेष्माजनित विभिन्न विकारों में लंघन का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। विभिन्न रोगों में लंघन का निर्देश यद्यपि स्पष्टतः विकारोपशमन के लिये किया गया है और उपहास के साथ उसका कोई तादात्म्य भाव नहीं है, तथापि दोनों की प्रकृति एक समान होने से दोनों में निकटता तो है ही इसके अतिरिक्त लंघन के द्वारा जब विकाराभिनिवृत्ति होती है तो उस प्रकृति-स्थापन एवं शुद्धिकरण की प्रक्रिया का पर्याप्त प्रभाव मानसिक स्थिति पर पड़ता है और मन में विकारों के प्राबल्य में निश्चित रूप से कमी होती है। उपवास का प्रयोजन भी अन्तःकरण की शुद्धि करना है। लंघन के पीछे यद्यपि धार्मिक प्रवृति या आध्यात्मिक भाव नहीं होता, तथापि विवेक एवं नियमानुसार उसका भी आचरण किया जाय तो विकारोपशमन के साथ-साथ उपवास का फल भी अर्जित किया जा सकता है। उपवास के द्वारा तो निश्चय ही आध्यात्मिक पुण्य फल की उपलब्धि के साथ-साथ शारीरिक व मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी है कि लंघन के द्वारा जो आरोग्य लाभ होता है वह व्यवहारज स्वास्थ्य कहलाता है। यह व्यवहारज स्वास्थ्य पारमार्थिक स्वास्थ्य की लब्धि में सहायक साधन है, अतः आध्यात्मिक निःश्रेयस् की दृष्टि से लंघन भी एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण साधन है।

आध्यात्मिक अभ्युन्नति, आत्मकल्याण यथा अन्तःकरण की शुद्धि की दृष्टि से जैन धर्म में दस लक्षण धर्मों का विशेष महत्त्व है। उन दस लक्षण धर्मों में 'त्याग धर्म' को अन्तःकरण की शुद्धि तथा आत्म कल्याण हेतु विशेष उपयोगी एवं महत्वपूर्ण निरूपित किया गया है। उत्तम त्याग धर्म के अन्तर्गत गृहस्थ जनों के लिए चार प्रकार का दान बतलाया है, जिसमें एक औषध दान भी है। जैनधर्म में अन्य दानों की भाँति "औषध दान" की महिमा भी बतलाई गई है। औषध दान के द्वारा दानकर्ता को पुण्य का संचय तो होता ही है, औषध दान का लाभ लेने वाला व्यक्ति आरोग्य लाभ करता है। औषध का समावेश चिकित्सा के अन्तर्गत है और चिकित्सा का सर्वांगपूर्ण विवेचन आयुर्वेद शास्त्र में विहित है। यही कारण है कि जैन समाज द्वारा स्थान-स्थान पर जैन धर्मार्थ दातव्य औषधालय खोले गए हैं जो केवल समाज के दान से ही चलते हैं और प्रतिदिन असंख्य आर्तजन उनसे लाभ उठाते हैं। यह परम्परा समाज में कई दिनों से चली आ रही है। अतः यह निसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म का आयुर्वेद से निकट सम्बन्ध है।

जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के शरीर में रोगोद्भव अशुभकर्म के उदय से होता है। मनुष्य द्वारा पूर्वजन्म में किए गए पाप कर्म का उदय जब इस जन्म में होता है तो अन्यान्य कष्टों अथवा रोगोत्पत्ति रूप कष्ट भी उसे होता है। उसका निवारण तब तक संभव नहीं है जब तक उस अशुभ कर्म का परिपाक होकर उसका क्षय नहीं हो जाता। धर्माचरण से पाप का शमन होता है, अतः पापकर्मजनित रोग का शमन धर्म सेवन से ही संभव है। यही भाव जैन धर्म में निम्न प्रकार से प्रतिपादित है :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वात्मना धर्मपरो नरः स्यात्तमाशु सव समुपैति सौख्यम ।
पापोदयात्ते प्रभवन्ति रोगा धर्माच्च पापाः प्रतिपक्षभावात् ।।
नश्यन्ति, सर्वे प्रतिपक्षयोगाद्विनाशमायान्ति किमत्र चित्रम् । —कल्याणकारक, ७/२९

अर्थात् जो मनुष्य सर्वप्रकार से धर्मपरायण रहता है उसे शीघ्र ही सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। पाप के उदय से विविध रोग उत्पन्न होते हैं तथा पाप और धर्म में परस्पर प्रतिपक्ष (विरोधी) भाव होने से धर्म से पाप का नाश होता है, अतः धर्म के प्रभाव से पाप जनित रोग का नाश होता है। प्रतिपक्ष की प्रबलता होने से (धर्म के प्रभाव से) यदि रोग समूह विनाश को प्राप्त होते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

धर्म के प्रभाव से पाप रूप रोग का जो विनाश होता है उसमें धर्म तो वस्तुतः आभ्यन्तर कारण होता है और बाह्य कारण विविध औषधोपचार होता है। बाह्य कारण के रूप में प्रयुक्त औषधोपचार को ही चिकित्सा कहा जाता है, जबकि आभ्यन्तर कारण के रूप में सेवित धर्म को धर्माचरण ही माना जाता है। किन्तु चिकित्सा के अन्तर्गत धर्म का भी उल्लेख होने से उसे सात्विक चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया गया है। रोगोपशमनार्थ बाह्य और आभ्यन्तर चिकित्सा के रूप में धर्म आदि की कारणता निम्न प्रकार से बतलाई गई है :—

धर्मस्तथाभ्यन्तरकारणं स्याद्रोगप्रशान्त्यै सहकारिपूरम् ।
बाह्यं विधानं प्रतिपद्यतेऽत्र चिकित्सितं सर्वमिहोभयात्म ।।

—कल्याण कारक, ७/३०

अर्थात् रोगों की शान्ति के लिए धर्म आभ्यन्तर कारण होता है जबकि बाह्य चिकित्सा सहकारी पूरक कारण होता है। अतः सम्पूर्ण चिकित्सा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की होती है।

चिकित्सा कर्म के द्वारा लोगों के व्याधिजनित कष्ट का निवारण ही नहीं होता है, अपितु कई बार भीषण दुःसाध्य व्याधि से मुक्त हो जाने के कारण जीवन दान भी प्राप्त होता है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे गए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कई व्यक्ति अपनी व्याधि की भीषणता एवं जीर्णता के कारण अपने जीवन से निराश हो गए थे, जिन्हें अपना जीवन बचने की कोई आशा नहीं थी उन्हें समुचित चिकित्सोपचार द्वारा रोग से छुटकारा मिला तो उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें जीवनदान ही नहीं मिला, अपितु नवीन जीवन प्राप्त हुआ। इस प्रकार चिकित्सा द्वारा लोगों को जीवन निर्वाह का अवसर प्रदान करना अतिशय पुण्य का कार्य है। किन्तु इसमें एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जो चिकित्सा की जाती है उसके मूल में परोपकार और निःस्वार्थ की भावना कितनी है ? इस पर पुण्य की मात्रा निर्भर है। क्योंकि धन के लोभ से स्वार्थवश किया गया चिकित्सा कार्य पुण्य का हेतु नहीं माना जा सकता । धन लिप्सा के कारण वह लोभ वृत्ति एवं परिग्रह वृत्ति का परिचायक है। ये दोनों ही भाव अशुभ कर्म के बन्ध का कारण माने गए हैं। अतः ऐसी स्थिति में वह परलोक के सुख का कारण कैसे बन सकती है ? चिकित्सा कार्य वस्तुतः अत्यन्त पवित्र कार्य है और वह परहित की भावना से प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिये। तब ही वह धर्माचरण माना जा सकता है और तब ही उसके द्वारा पापों (अशुभ कर्मों) का नाश एवं धर्म की अभिवृद्धि होकर आत्मा के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

पापों का विनाशक होने के कारण जैनाचार्यों ने चिकित्सा को उभयलोक का साधन निरूपित किया है। चिकित्सा कार्य भी एक प्रकार की साधना है, जिसमें सफल होने पर रोगी को कष्ट से मुक्ति आर चिकित्सक को यश और धन के साथ पुण्य फल की प्राप्ति होती है। श्री उग्रादित्याचार्य ने चिकित्सा कर्म की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं चिकित्सितं धर्म विवृद्धये च ।
चिकित्सितं चोभयलोकसाधनं चिकित्सितान्नास्ति परं तपश्च ।।

—कल्याणकारक, ७/३२

अर्थात् रोगियों की चिकित्सा पापों का विनाश करने के लिए तथा धर्म की अभिवृद्धि करने के लिए की जानी चाहिये। चिकित्सा के द्वारा उभय लोक (यह लोक और परलोक दोनों) का साधन होता है। अतः चिकित्सा से अधिक श्रेष्ठ कोई और तप नहीं है।

चिकित्सा का उद्देश्य मुख्यतः परहित की भावना होना चाहिये। इस प्रकार की भावना वैद्य के पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के कारण होती है। अन्य किसी प्रकार के स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर किया गया चिकित्सा कर्म आयुर्वेद शास्त्र के उच्चादर्शों से सर्वथा विपरीत है। चिकित्सा के उच्चतम आदर्शमय उद्देश्य के पीछे निम्न प्रकार का स्वार्थ भाव गर्हित बतलाया गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्माच्चिकित्सा न च काममोहान्न चार्थलाभान्न च मित्ररागात् ।
न शत्रुरोषान्न च बंधुबुद्ध्या: न चान्य इत्यन्यमनोविकारात् ।।
न चैव सत्कारनिमित्ततो वा न चात्मनः सद्यशसे विधेयम् ।
कारुण्यबुद्ध्या परलोकहेतो कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान् ।।

—*कल्याण कारक*, ७/३३-३४

इसलिए वैद्य के लिए उचित है कि उसे काम और मोह के वशीभूत होकर, अर्थ (धन) के लोभ से, मित्र के प्रति अनुराग भाव से, शत्रु के प्रतिरोध (क्रोध) भाव से, बंधुबुद्धि (ममत्वभाव) से तथा इसी प्रकार के अन्य मनोविकार से प्रेरित होकर अथवा अपने सत्कार के निमित्त या अपने यश अर्जन के लिए चिकित्सा नहीं करना चाहिये। विद्वान् वैद्य कारुण्य बुद्धि (रोगियों के प्रति दया भाव) से परलोक साधन के लिए तथा अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के लिए चिकित्सा कार्य करें।

जिन शासन में ऐसी भी क्रिया विधि उपादेय मानी गई जो कर्म का क्षय करने से साधन भूत हो। अन्य शुभ कर्म भी आचरणीय बतलाए गए हैं, किन्तु उनसे मात्र शुभकर्म का बंध होकर पुण्य का संचय होता है और उससे परलोक में सुख प्राप्ति होती है। उससे कर्मों का क्षय नहीं होने से बन्धन से मुक्ति या आत्म कल्याण नहीं होता है। चिकित्सा कार्य में यदि कारुण्य भाव निहित हो तो उससे कर्म क्षय होता है—ऐसा विद्वानों का अभिमत है, जैसा कि उपर्युक्त वचन से सुस्पष्ट है।

कोई भी वैद्य अपने उच्चादर्श, चिकित्सा कार्य में नैपुण्य, शास्त्रीय ज्ञान की गंभीरता, मानवीय गुणों की सम्पन्नता, निःस्वार्थ सेवा भाव आदि विशिष्ट गुणों के कारण ही समाज में विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। यही उसकी स्वयं की प्रतिष्ठा, उसके व्यवसाय की प्रतिष्ठा और समष्टि रूपेण देश की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। वैद्यत्व की सार्थकता भी वस्तुतः इसी में निहित है। जिसका वैद्यत्व एवं वैद्यक व्यवसाय परोपकार की पवित्र भावना से प्रेरित न हो उसका वैद्य होना ही निरर्थक है। क्योंकि वैद्य का उच्चादर्श रोगी को भीषण व्याधि से मुक्त कराकर उसे आरोग्य लाभ प्रदान करना है। महर्षि अग्निवेश ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम् ।
छित्वा वैवस्वतान् पाशान् जीवितं य प्रयच्छति ।।
धर्मार्थदातासदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते ।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ।।

—चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १/४/६०-६१

अर्थात् भयंकर रोगों द्वारा यमपुरी की ओर बलात् ले जाते हुए प्राणियों के प्राण को जो वैद्य यमराज के पाशों को काटकर बचा लेता है उसके समान धर्म-अर्थ को देने वाला इस जगत् में दूसरा कोई नहीं पाया जाता है क्योंकि जीवनदान से बढ़कर कोई दूसरा दान नहीं है। अर्थात् सभी प्रकार के दानों में जीवन (प्राण) का दान करना (बचाना) सबसे बड़ा दान बताया गया है। जैनधर्म में प्राणदान को अभयदान की संज्ञा दी गई है। वैद्य के द्वारा चूंकि रोगी को जीवन दान मिलता है, इसलिए संसार में धर्म और अर्थ को देने वाला सबसे बड़ा वैद्य ही है।

आयुर्वेद शास्त्र के प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि आयुर्वेद में जीवन दान को कितना विशिष्ट माना गया है। उसके अनुसार जीवन दान से बढ़कर कोई दूसरा दान नहीं है। जीवन दान में जहां परहित का भाव निहित है वहां वैद्य का उच्चतम आदर्श भी प्रतिबिम्बित होता है। दूसरों के प्राणों की रक्षा करना जैन संस्कृति का मूल है, क्योंकि इसी में लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना निहित है। इस दृष्टि से जैनधर्म और आयुर्वेद में निकटता सुस्पष्ट है। परहित की पावन भावना से प्रेरित होने के कारण इस आयुर्वेद शास्त्र में जहां दूसरों की प्राण रक्षा को विशेष महत्व दिया गया है वहां आजीविका के साधन के रूप में इसे अपनाए जाने का पूर्ण निषेध किया गया है। वर्तमान समय में यद्यपि आयुर्वेद का अध्ययन और अध्यापन पूर्णतः स्वार्थ प्रेरित होकर आजीविका के निमित्त से किया जाता है। अब तो यह आजीविका के साधन के अतिरिक्त पूर्णतः व्यापारिक रूप को धारण कर चुका है जो आयुर्वेद चिकित्सा के उच्चादर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। महर्षि चरक ने आयुर्वेद चिकित्सा के जो उच्चादर्श प्रतिपादित किए हैं वे उभय लोक हितकारी होने से निश्चय ही अनुकरणीय हैं और जैनधर्म की दृष्टि से अनुशंसित हैं। उन आदर्शों में प्राणि मात्र के प्रति दया का भाव प्रदर्शित करते हुए निःस्वार्थ भाव से चिकित्सा करने की प्रेरणा दी गई है।

यह सुविदित है कि जैनाचार्यों ने धर्म-दर्शन-साहित्य और कला के क्षेत्र में अपने अद्वितीय योगदान के द्वारा भारतीय संस्कृति के स्वरूप को तो विकसित किया ही है, मानव मात्र के प्रति कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त किया है। उन्होंने लोकहित की भावना से जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य सृजन किया है उसमें उनकी अद्वितीय प्रतिभा की सुस्पष्ट झलक मिलती है। संस्कृत साहित्य का ऐसा कोई विषय या क्षेत्र नहीं बचा है जिस पर जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी न चलाई हो। अभी तक जैनाचार्यों द्वारा रचित जो ग्रन्थ प्रकाशित किए गए हैं वह उनके द्वारा रचित उस विशाल साहित्य का अंश मात्र ही है। अभी ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो विभिन्न मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित पड़े हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख आचार्यों की अन्यान्य कृतियों तथा विभिन्न माध्यम से मिलता है, किन्तु वर्तमान में वे उपलब्ध नहीं हैं। जैनाचार्यों के ऐसे ग्रन्थों को प्रकाश में लाकर उनके सम्पादन व प्रकाशन की समुचित व्यवस्था किया जाना नितान्त आवश्यक है।

समग्र जैन साहित्य का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि बहुमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और विलक्षण वैभव के धनी जैनाचार्य केवल एक विषय के ही अधिकारी नहीं थे, अपितु वे प्रत्येक विषय में निष्णात थे और उस विषय का अधिकार पूर्वक व्याख्यान करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। अतः उनके विषय में यह कहना संभव नहीं था कि वे किस विषय के अधिकार सम्पन्न विद्वान हैं अथवा उनका अधिकृत विषय कौनसा है? उन्होंने जिस किसी भी विषय पर लेखनी चलाई उसी में उन्होंने अपने वैदुष्य की गहरी छाप छोड़ी। दीर्घकालीन अध्ययन, मनन और चिन्तन के परिणाम स्वरूप ग्रंथ निबन्धन के रूप में जो नवनीत उनकी लेखनी से समुद्भूत हुआ वह स्वार्थ साधन हेतु नहीं था, अपितु लोक कल्याण की भावना उसके मूल में निहित थी। परमार्थ उनके चिन्तन का केन्द्र बिन्दु था और उसी भावना से वे प्रेरित थे। इसका एक कारण यह था कि अधिकांश ग्रंथकर्ता दिगम्बर जैन निर्ग्रंथ साधु थे और सांसारिक आसक्ति से सर्वथा शून्य होने के कारण आत्म कल्याण के साथ-साथ परमार्थ साधन ही उनके साहित्य सृजन का मूल उद्देश्य था। अपने ज्ञान और अनुभव से निःसृत विचार कणों को ग्रथित कर उन्होंने समग्र मानव समाज, देश और संस्कृति का जो उपकार किया वह अकथनीय है।

जैनाचार्यों को यद्यपि मूलतः अध्यात्म विद्या ही अभीष्ट रही है, तथापि धर्म, दर्शन, न्याय आदि विषय भी उनकी ज्ञान परिधि में व्याप्त रहे हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार उन्होंने उक्त विषयों पर आधारित विविध उत्कृष्टतम ग्रंथों की रचना की उसी प्रकार उन्होंने व्याकरण, कोष, काव्य-छंद, अलंकार, नीति शास्त्र, ज्योतिष और आयुर्वेद विषयों पर भी साधिकार ग्रंथों का प्रणयन कर अपने चरम ज्ञान और अद्भुत बुद्धि-कौशल का परिचय दिया। उपलब्ध अनेक प्रमाणों से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जैनाचार्यों ने प्रचुर मात्रा में स्वतंत्र रूपेण आयुर्वेदीय ग्रंथों का निर्माण कर न केवल आयुर्वेद साहित्य की वृद्धि में अपना योगदान किया है, अपितु जैन वाङ्मय को भी एक लौकिक विषय के रूप में साहित्यिक विधा से अलंकृत किया है। अतः यह कहना सर्वथा न्यायसंगत है कि आयुर्वेद साहित्य के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गई सेवा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति। उनके द्वारा रचित साहित्य में कतिपय मौलिक विशेषताएँ विद्यमान हैं जो अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। उनके द्वारा रचित वैद्यक ग्रंथ आयुर्वेद सम्बन्धी कतिपय ऐसे तथ्यों को उद्घाटित करते हैं जो वैदिक कालीन आयुर्वेद के ग्रंथों में नहीं मिलते हैं। इस विषय पर व्यापक तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

प्राचीन भारतीय अध्ययन पद्धति की यह विशेषता रही है कि उसमें एक शास्त्रज्ञता की अपेक्षा बहुशास्त्रज्ञता पर अधिक जोर दिया गया है। क्योंकि एक शास्त्राभ्यासी अपने अधिकृत विषय में नैपुण्य प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य कहते हैं—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं जानीयात्॥ —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४/७

अतः विषय या शास्त्र की पूर्णज्ञता एवं शास्त्र के विनिश्चय के लिए अन्य शास्त्रों का अध्ययन और साधिकार ज्ञान अपेक्षित है। यही कारण है कि जिन जैनाचार्यों ने धर्म, दर्शन, न्याय, काव्य, अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष आदि विषयों को अधिकृत कर विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया, उन्हीं आचार्यों ने वैद्यक विषय को अधिकृत कर अन्यान्य आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना कर अपनी बहु शास्त्रज्ञता का तो परिचय दिया ही, अपनी अलौकिक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद स्वामी, जैन साधु जगत् के देदीप्यमान नक्षत्र परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन, गुरू वीरसेन, उद्भट मनीषि कुमदेन्दु, आचार्य प्रवर सोमदेव, महापण्डित आशाधर आदि दिव्य विभूतियों की विभिन्न कृतियों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो यह देखकर महान् आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उन्होंने विभिन्न विषयों पर अपनी अधिकार पूर्ण लेखनी चलाकर अपनी अद्भुत विषय प्रवणता और ज्ञानगांभीर्य की व्यापकता का परिचय दिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्हें सभी विषयों में प्रौढ़ प्रभुत्व प्राप्त था, उनका निरभिमानी पाण्डित्य सर्वदिगन्त व्यापी था और उनका ज्ञान-रवि अपनी प्रखर रश्मियों से सम्पूर्ण साहित्य जगत को आलोकित कर रहा था। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ रत्नों में जो ज्ञानराशि संचित है वह अब भी मानव समाज का उपकार कर रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनाचार्यों ने आयुर्वेद के जिन ग्रन्थों की रचना की है उनमें पूर्णत: जैन सिद्धान्तों का अनुकरण तथा धार्मिक नियमों का परिपालन किया गया है जो उनकी मौलिक विशेषता है। ग्रन्थ रचना में व्याकरण सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए रस, छन्द, अलंकार आदि काव्यांशों का यथा सम्भव प्रयोग किया गया है जिससे ग्रंथकर्ता के बहुमुखी वैदुष्य का आभास सहज ही हो जाता है। ग्रंथों में प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा का प्रयोग होने से ग्रन्थों की उत्कृष्टता निश्चय ही द्विगुणित हुई है। अत: यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि जिन विद्वद् श्रेष्ठ द्वारा उन ग्रन्थों की रचना की गई है वे न केवल सर्वशास्त्र पारंगत थे, अपितु आयुर्वेद में कृताभ्यासी और अनुभव से परिपूर्ण थे। अनेक ऐसे भी जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने स्वतंत्र रूप से तो किसी वैद्यक ग्रंथ का निर्माण नहीं किया, किन्तु अपने अन्य विषयक ग्रन्थों में यथा प्रसंग आयुर्वेद सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का प्रतिपादन किया है। जैसे श्रीमत्सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्पू में अत्यन्त विस्तार पूर्वक प्रसंगोपात्त आयुर्वेदीय विभिन्न विषयों एवं सिद्धान्तों का समीचीन प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार अपने अन्य ग्रंथ नीतिवाक्यामृत में भी उन्होंने अनेक स्थलों पर आयुर्वेदीय विषयों को उद्धृत किया है। श्री पं० आशाधर जी ने स्वतन्त्र रूपेण किसी वैद्यक ग्रंथ का निर्माण नहीं किया, किन्तु आयुर्वेद के एक प्रमुख ग्रन्थ "अष्टांग हृदय" पर विद्वत्तापूर्ण टीका लिखकर अपनी विद्वत्ता एवं आयुर्वेद संबंधी अपने अगाध ज्ञान का परिचय दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक आचार्यों ने भी आयुर्वेद के विभिन्न ग्रंथों पर अपनी ओजपूर्ण एवं विद्वत्ता पूर्ण टीकाएं लिखकर आयुर्वेद जगत् का महान् उपकार किया है। इस प्रकार आयुर्वेद के प्रति जैनाचार्यों के योगदान को तीन प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—एक स्वतंत्र ग्रन्थ रचना के रूप में, दूसरा अपने अन्य विषयों वाले ग्रंथों में प्रसंगोपात्त वर्णन के रूप में और तीसरा आयुर्वेद के ग्रन्थों की टीका के रूप में।

यह जैनाचार्यों के गहन वैदुष्य का ही परिणाम है कि जैन सिद्धान्त, दर्शन और अध्यात्म जैसे विषयों पर ग्रन्थ रचना करने वाले मनीषियों ने आयुर्वेद जैसे लौकिक विषय पर भी व्यापक रूप से लिखा और जन कल्याण हेतु अपने आयुर्वेद संबंधी ज्ञान को प्रसारित किया। अत: यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आयुर्वेद वाङ्मय के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गई सेवा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति। किन्तु दु:ख इस बात का है कि जैनाचार्यों द्वारा जितने भी वैद्यक ग्रन्थों की रचना की गई है उसका शतांश भी अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। इसका एक कारण तो यह है कि उनके द्वारा लिखित अनेक वैद्यक ग्रन्थ या तो लुप्त हो गए हैं अथवा खण्डित रूप में होने से अपूर्ण हैं। काल कवलित हुए अनेक वैद्यक ग्रंथों का उल्लेख विभिन्न आचार्यों की वर्तमान में उपलब्ध अन्यान्य कृतियों में मिलता है। विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों तथा जैन मंदिरों में खोजने पर अनेक वैद्यक ग्रन्थों के प्राप्त होने की संभावना है। अत: विद्वानों द्वारा इस दिशा में अनुसंधान कार्य अपेक्षित है। प्रयत्न किए जाने पर इस दिशा में निश्चय ही सफलता प्राप्त हो सकती है।

दूसरा कारण यह है कि समाज तथा समाज के सम्पन्न श्रेष्ठी वर्ग ने इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन के प्रति उपेक्षा या उदासीनता का भाव रखा। आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रकाशन के प्रति उनमें कोई रुचि नहीं थी अत: यह कार्य उपेक्षित-सा रहा। समाज के सम्पन्न वर्ग एवं विभिन्न संस्थाओं ने यद्यपि अन्य ग्रंथों के संशोधन, सम्पादन, मुद्रण एवं प्रकाशन में अत्यधिक रुचि एवं उत्साह प्रदर्शित किया तथा आर्थिक व अन्य सभी प्रकार का सहयोग प्रदान किया, किन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रति कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की गई। *वर्तमान में जैन साहित्य की विभिन्न विधाओं में शोध कार्य के प्रति अत्यधिक उत्साह है। अनेक संस्थाएं इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।* अत: विलुप्त वैद्यक ग्रंथों की भी खोज की जानी चाहिए और उनके प्रकाशन की व्यवस्था की जानी चाहिये। संभव है कि लुप्त वैद्यक ग्रंथों के प्रकाशन में आने से आयुर्वेद के उन महत्वपूर्ण तथ्यों एवं सिद्धान्तों का प्रकाशन हो सके जो आयुर्वेद के प्रचुर ग्रंथों के काल कवलित हो जाने से विलुप्त हो गए हैं। जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक ग्रंथों के प्रकाशन से आयुर्वेद के विलुप्त साहित्य और इतिहास पर भी प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। आशा है समाज, विद्वद वर्ग और शोधकर्ता गण इस दिशा में भी प्रयत्नशील रहेंगे, ताकि असूर्यम्पश्य इस विषय पर अधिकाधिक सामग्री संकलित की जा सके और उसे समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके। विभिन्न शोध संस्थानों एवं अध्ययन-अनुसंधान केन्द्रों तथा सरस्वती भवनों से इस दिशा में अपेक्षित सहयोग एवं दिशा निर्देश प्राप्त किया जा सकता है ताकि जैन वाङ्मय के अंगभूत आयुर्वेद विषयक ग्रन्थों को प्रकाश में लाया जा सके और जैनाचार्यों के योगदान का समुचित मूल्यांकन किया जा सके।

जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ऐसे ग्रंथों की संख्या अत्यल्प है जिसका प्रकाशन किया गया है। अब तक जो ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं उनमें श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत "कल्याणकारक" और श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा कथित औषध योगों का संकलन "वैद्यसार" ये दो ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। इनमें से प्रथम कल्याणकारक का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन श्री पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर द्वारा किया गया है और प्रकाशन श्री सेठ गोविन्दजी राव जी दोशी, सोलापुर द्वारा १ फरवरी १९४० को किया गया। द्वितीय वैद्यसार नामक ग्रंथ जैन सिद्धान्त भवन द्वारा प्रकाशित किया गया। इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद आयुर्वेदाचार्य पं० सत्यन्धर कुमार जैन, काव्यतीर्थ द्वारा किया गया है। इस ग्रंथ में चिकित्सा सम्बन्धी जो विभिन्न औषध योग वर्णित हैं उनमें से अधिकांश में पूज्यपादैः कथितं, पूज्यपादोदितं आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि पूज्यपाद स्वामी का कोई चिकित्सा विषयक ग्रन्थ पूर्वकाल में विद्यमान था जिसमें से ये योग उद्धृत कर संकलित किए गए हैं। अतः यह तो स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद द्वारा रचित नहीं है। इसकी भाषा शैली भी पूज्यपाद की विद्वत्ता के अनुरूप नहीं है। अतः वे योग अविकल रूप से उद्धृत किए गए हों यह भी नहीं कहा जा सकता। यह भी अभी तक अज्ञात ही है कि इस ग्रन्थ का वास्तविक रचयिता या संग्रहकर्ता कौन है ?

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति सूरि विरचित योग चिन्तामणि, हस्तिरुचि द्वारा लिखित वैद्य बल्लभ, अनन्तदेवसूरिकृत रस चिन्तामणि, श्री कण्ठसूरिकृत हितोपदेश वैद्यक, हंसराज कृत हंसराज निदान, कवि विश्राम द्वारा लिखित अनुपान मंजरी आदि ग्रन्थों के प्रकाशित होने की जानकारी भी प्राप्त हुई है। कन्नड़ भाषा में भी आयुर्वेद के एक ग्रंथ के प्रकाशित होने की सूचना प्राप्त हुई है। यह ग्रंथ है श्री मंगराज द्वारा रचित खगेन्द्रमणिदर्पण। इस ग्रन्थ को मद्रास विश्व विद्यालय ने कन्नड भाषा एवं कन्नड लिपि में कन्नड सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित किया था। किन्तु मुद्रणातीत होने से वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार उपर्युक्त प्रकाशित ग्रन्थों में से अधिकांश ग्रन्थ मुद्रणातीत हो जाने के कारण वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। पुनः उनका प्रकाशन किया जाता है अथवा नहीं, यह कह सकना कठिन है। अतः इस दिशा में भी पर्याप्त ध्यान दिया जाना अपेक्षित है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रथों की संख्या प्रचुर है। किन्तु उन ग्रंथों की भी वही स्थिति है जो जैनाचार्यों द्वारा लिखित ज्योतिष के ग्रंथों की है। विद्वद्जनों, समाज एवं संस्थाओं की उपेक्षा के कारण जैनाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रचुरता होते हुए भी यह सम्पूर्ण साहित्य अभी तक अन्धकारावृत्त है। अब तो स्थिति यह होती जा रही है कि जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत जिन ग्रंथों की रचना का पता चलता है उनमें से अधिकांश का अस्तित्व ही हमारे सामने नहीं है। संभव है किसी ग्रन्थ भण्डार में किसी ग्रंथ की एकाध प्रति मिल जाय। अनेक स्थानों पर स्वामी समन्तभद्र के वैद्यक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह ग्रंथ अभी तक अप्राप्य है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ योगरत्नाकर में भी पूज्यपाद के नाम से अनेक योग उद्धृत हैं। किन्तु आज पूज्यपाद का वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार "बसव राजीयम्" नामक आयुर्वेदीय ग्रंथों में भी पूज्यपाद के नाम से अनेक योग उल्लिखित हैं। किन्तु अत्यधिक प्रयत्न किए जाने पर भी पूज्यपाद द्वारा रचित चिकित्सा योग सम्बन्धी कोई ग्रंथ हस्तगत नहीं हुआ है। कुछ वर्तमान कालीन विद्वानों ने जैनाचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रंथों का विवरण तो दिया है, किन्तु यह उल्लेख उन्होंने नहीं किया कि वह ग्रंथ वर्तमान में कहां है और उसकी जानकारी का स्रोत क्या है ? इससे ग्रन्थ को खोजने में परेशानी होना स्वाभाविक है।

भाषा की दृष्टि से भी जैनाचार्यों का योगदान अति महत्वपूर्ण है। जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि तत्कालीन लोकभाषा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने ग्रंथों की रचना की है ताकि उनके द्वारा रचित ग्रन्थ लोकोपयोगी हो सके और जनसामान्य भी उससे लाभ उठा सके। वर्तमान में जिन ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त हुई है उसके अनुसार चार भाषाओं में जैनाचार्यों ने आयुर्वेद के ग्रन्थों का प्रणयन किया है। यथा—प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़ और हिन्दी। इनमें से कन्नड़ भाषा में रचित ग्रन्थों में कन्नड़ लिपि का प्रयोग किया गया है और शेष तीन भाषाओं प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों में देवनागरी लिपि व्यवहृत है। संभव है बंगाली, पंजाबी, तमिल, संस्कृत, तेलगु, मलयालम आदि भाषाओं में भी ग्रन्थ रचना हुई हो, किन्तु अभी उसकी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। एक यह जानकारी आवश्यक प्राप्त हुई है कि मेघमुनि रचित 'मेघ विनोद' की एक मूल प्रति मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन संस्था के मालिक श्री सुन्दरलाल जी जैन के पास गुरमुखी लिपि (पंजाबी भाषा) में थी, जिनका उन्होंने हिन्दी में अनुवाद कराकर अपने यहां से प्रकाशन कराया है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रन्थों की एक विशाल तालिका तैयार की है जो जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-४, किरण-२ में प्रकाशित हुई है। उस तालिका के द्वारा अनेक कृतियों की जानकारी प्राप्त होती है। तालिका निम्न प्रकार है—

श्वेताम्बर जैन वैद्यक ग्रन्थ

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचनाकाल
१. योग चिन्तामणि	मूल हर्षकीर्ति सूरि भाषा टीका नरसिंह खरतर	संस्कृत	सं० १६६२
२. वैद्यक सारोद्धार	हर्ष कीर्तिसूरि	संस्कृत	सं० १६६२
३. ज्वरपराजय	जयरत्न	संस्कृत	———
४. वैद्यवल्लभ	हस्तिरुचि	संस्कृत	———
५. सुबोधिनी वैद्यक	लक्ष्मीचन्द्र	हिन्दी	———

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचना काल
६. वैद्यकसार रत्न चौपाई	लक्ष्मी कुशल	गुजराती	सं० १६६४ फा०
७. लंघन पथ्योपचार	दीपचन्द्र	संस्कृत	सं० १७८२
८. बालचिकित्सा निदान	—	—	—
९. योगरत्नाकर चौपाई	नयन शेखर	गुजराती	—
१०. डम्भ क्रिया	धर्मसिंह धर्मवर्धन	हिन्दी	—
११. पथ्यापथ्य	महो० रामलाल जी	—	वीर सं० २४३९
१२. रामनिदान टवासहित	उपर्युक्त	—	—
१३. कोकशास्त्र चौपाई	अर्बुदाचार्य	कामशास्त्र में प्रासंगिक चिकित्सा (प्रकाशित)	
१४. रसामृत	माणिक्य देव		

जैनेतर वैद्यक ग्रंथों पर टीकाएं

१. योगरत्नमाला वृत्ति	गुणाकार श्वे०	—	सं० १२९६
२. अष्टांगहृदय टीका	पं० आशाधर दि०	—	—
३. पथ्यापथ्य टवा	चैनसुख मुनि	—	सं० १८३५
४. माधव निदान टवा	ज्ञानमेरु	—	—
५. सन्निपात कलिका	हेम निधन	—	सं० १७३३
६. योगशतक टीका	मूल वररुचि संप्रतभद्र (समन्तभद्र)		सं० १७३१

श्वेताम्बर हिन्दी वैद्यक ग्रन्थ

१. वैद्य मनोत्सव	नयनसुख		सं० १६४९ सीहन नगर
२. वैद्य विलास तिब्बसहाबा	मलूकचन्द्र		—
३. रामविनोद	रामचन्द्र	—	सं० १७२० शक्की नगर
४. वैद्यविनोद	रामचन्द्र		सं० १७२६ मराठ
५. कालज्ञान	लक्ष्मीवल्लभ	—	सं० १७४१
६. कवि विनोद	मानकवि		सं० १७४३ लाहौर
७. कवि प्रमोद	मानकवि		सं० १७४६ कातिक सु० २
८. रसमंजरी	समरथ		सं० १७६४
९. मेघ विनोद	मेघमुनि		सं० १८३५ फगवाड़ा
१०. मेघ विलास	मेघमुनि		—
११. वैद्य जीवन (लोलिम्बराजभाषा)	यति गंगाराम		सं० १८८२ अमृतसर
१२. सूरजप्रकाश भावदीपक	यति गंगाराम		सं० १८८३ अमृतसर
१३. भाव निदान	यति गंगाराम		सं० १८८८ अमृतसर

दिगम्बर जैन वैद्यक ग्रंथ

१. वैद्यसार	पूज्यपाद
२. निदानमुक्तावलि	पूज्यपाद
३. मदनकामरत्न	पूज्यपाद
४. कल्याणकारक	उग्रादित्याचार्य
५. सुकरयोगरत्नावलि	पार्श्वदेव
६. बालग्रह चिकित्सा	देवेन्द्रमुनि
७. वैद्य निघन्टु	अमृतनन्दिमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचना काल
८. वैद्यामृत	श्रीधरदेव		
९. खगेन्द्रमणि दर्पण	मंगराज		
१०. हयशास्त्र	अभिनवचन्द्र		
११· कल्याणकारक	सोमनाथ		
१२. गोवैद्य	कीर्तिवर्म		

श्री नाहटा जी द्वारा प्रस्तुत इस सूची के पश्चात् "जैन सिद्धान्त भास्कर" के मनीषी सम्पादक श्री पं० के भुजबलि शास्त्री ने अपना सम्पादकीय नोट भी प्रस्तुत किया है जो निम्न प्रकार है—

श्री युत् नाहटा जी ने इस जैन ज्योतिष और वैद्यक की ग्रन्थतालिका में दिगम्बर जैन ज्योतिष एवं वैद्यक ग्रन्थों के जो नाम दिए हैं वे भास्कर में धारा प्रवाह रूप से प्रकाशित होते हुए मेरे प्रशस्ति संग्रहगत कतिपय ग्रन्थों के ही नाम मात्र हैं। इनके अतिरिक्त दि० जैन साहित्य में एतद्विषयक रचनाओं का जहां तहां अधिकतर उल्लेख मिलता है। सावकाश होकर अन्वेषण करने पर दिगम्बर जैन ज्योतिष और वैद्यक ग्रन्थों की एक बृहत्-सूची तैयार की जा सकी है। अभी तत्क्षण मेरी नजरों से ही जो कुछ नाम गुजरे हैं वे नीचे दिए जाते हैं। ये पं० नाथूराम प्रेमी जी द्वारा संग्रहीत दि० जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ-आदि पर से संग्रहित हुए हैं—

ग्रन्थनाम	ग्रन्थनाम	भाषा	रचना काल
१. कनक दीपक	उग्रादित्य	संस्कृत	अनुपलब्ध
२. भिक्षु प्रकाश	उग्रादित्य	संस्कृत	अनुपलब्ध
३. रामविनोद	उग्रादित्य	संस्कृत	अनुपलब्ध
४. वैद्यगाता	कुन्द-कुन्द	प्राकृत	अनुपलब्ध
५. गुणपाक	चिक्कण कवि	संस्कृत	,,
६. वैद्यक निघन्टु	धनंजय	,,	,,
७. वैद्यक निघन्टु	पद्मनन्दि	,,	,,
८. वैद्यक निघण्टु	पदम सेन	संस्कृत	अनुपलब्ध
९. कल्याण कारक	पूज्यपाद	,,	,,
१०. वैद्य निघण्टु	रैवण सि	,,	,,
११. अष्टांग हृदय	वाग्भट	,,	उपलब्ध
१२. वैद्य निघण्टु	वाग्भट्	,,	,,
१३. वैद्य निघण्टु	अभिनव	,,	अनुपलब्ध
		—(. दि० जैन ग्रंथकर्त्ता और उनके ग्रंथ से सकलित)	
१४. योग चिन्तामणि	हर्षकीर्ति	संस्कृत	उपलब्ध
१५. विद्या विनोद	अकलंक	संस्कृत	अनुपलब्ध
१६. अकलंक संहिता	अकलंक	संस्कृत	,,
१७. बालग्रह चिकित्सा	मल्लिषेण	,,	,,
१८. मेरुतन्त्र	मेरुतुंग	,,	,,
		(भवन की सूची से संकलित)	
१९. अश्ववैद्य	वाचरस	कन्नड़	—
२०. वैद्यसांगत्य	साल्व	कन्नड़	—
२१. वैद्य निघण्टु	लक्ष्मण पण्डित	कन्नड़	—
		(कन्नड़ कविचरिते से)	
२२. सिद्धान्त रसायनकल्प	समन्तभद्र	प्राकृत	अनुपलब्ध
२३. जगतसुन्दरी	उग्रादित्य	संस्कृत	अनुपलब्ध
२४. कल्याणकारक	उग्रादित्य	,,	उपलब्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचनाकाल
२५. वैद्यक निघण्टु	धनमित्र	संस्कृत	अनुपलब्ध
२६. वृद्ध वाग्भट्	वाग्भटाचार्य	,,	,,
२७. रससार	शिवघोष	,,	,,
२८. वैद्यक योग संग्रह	पूज्यपाद	,,	,,
२९. रसतंत्र	पूज्यपाद	,,	,,
३०. प्रयोग संग्रह	शिवनन्दि	,,	,,
३१. प्रयोग चन्द्रिका	रामचन्द्र	,,	,,

(आदर्श जैन चरितमाला, वर्ष २, अंक ७-८ से)

उपर्युक्त सूची में उल्लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथों की प्रामाणिक जानकारी मुझे और मिली है, जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

ग्रंथ	ग्रंथकार	भाषा	रचनाकाल
१. वैद्य शास्त्र	पं० हरपाल	प्राकृत	—
२. सार संग्रह	विजयण्ण	संस्कृत	उपलब्ध
३. जगतसुन्दरी प्रयोगशाला	यशः कीर्ति	प्राकृत	,,
४. रस चिन्तामणि	अनन्तदेव सूरि	संस्कृत	उप०/मुद्रित
५. हितोपदेश वैद्यक	श्री कण्ठसूरि	संस्कृत	उप०/मुद्रित
६. रसावतार	माणिक्य चन्द्र जैन	,,	अनुपलब्ध
७. योगरत्नाकर	नारायण शेखर जैन	संस्कृत	अनुपलब्ध
८. वैद्यवृन्द	,,	,,	,,
९. वैद्यामृत	,,	,,	,,
१०. ज्वरनिर्णय	,,	,,	,,
११. ज्वरत्रिशती की टीका	,,	,,	,,
१२. रत्नाकर औषधयोग ग्रंथ	,,	,,	,,
१३. भैषज्य गुणार्णव	पूज्यपाद	,,	उपलब्ध ?
१४. निघण्टु समय	धनंजय	,,	,, ?
१५. निघण्टु शेष	,,	,,	/अनु०
१६. विद्या विनोद	पूज्यपाद	—	उपलब्ध
१७. पूज्यपाद वैद्यक	,,	,,	,,
१८. वैद्यकशास्त्र	पूज्यपाद	,,	,,
१९. कालज्ञान विधान	—	—	—
२०. वैद्यकाल	—	—	—
२१. वैद्य संग्रह	—	—	—
२२. निघण्टु शेष	हेमचन्द्राचार्य	—	मुद्रित/अनु

इन तीनों तालिकाओं से स्पष्ट है कि आयुर्वेद विषय पर जैनाचार्यों द्वारा लिखित साहित्य विपुल है। प्रयत्न पूर्वक खोज करने पर और भी अनेक ग्रंथों तथा महत्वपूर्ण सामग्री का पता चल सकता है। उस सामग्री एवं ग्रंथों के प्रकाश में आने पर जैन साहित्य की ऐसी विलुप्त विद्या का पुरुद्भव हो सकेगा जिसे चतुर्दश पूर्व के अन्तर्गत नष्टप्रायः समझ लिया गया है। अतः इस दिशा में शोध और अनुसंधान परक पर्याप्त प्रयत्न अपेक्षित है। आशा है विद्वद्जन एवं संस्थाएं इस दिशा में अपेक्षित ध्यान देंगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org